पाठ्यपुस्तकों के बोझ तले सिसकती रचनात्मकता

महेश पुनेठा



रचनात्मकता के विकास के लिए कार्य करने की स्वतंत्रता, अवसर की उपलब्धता तथा चुनौती का होना आवश्यक है। अनेक अध्ययनों में पाया गया है कि जब–जब बच्चों को स्वतंत्रता मिली है ,उन्हें कुछ करने के अवसर दिए गए तथा उनके सामने चुनौती प्रस्तुत की गई, तब–तब उनमें रचनात्मकता का विकास अधिक हुआ। समरहिल हो चाहे नीलबाग या सुखोक्लीन्स्की के खुशियों का स्कूल, इसके बड़े उदाहरण हैं। दबाब में रचनात्मकता संभव नहीं है। दबाव भय की परिणति होता है और भय की स्थिति में मनुष्य का मस्तिष्क स्वाभाविक ढंग से काम नहीं कर पाता है। मन विकृत हो जाता है। किसी नवाचार की हिम्मत तक नहीं जुटा पाता है। भयग्रस्त मन कभी भी सृजनशील नहीं हो सकता है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य तनाव में होता है तब मस्तिष्क तक जाने वाला रक्त का

संचार मेरूदंड के ऊपरी छोर तक ही ठीक रहता है इस कारण मस्तिष्क न ठीक तरीके से सोच पाता है और न शरीर के अन्य भागों तक संकेत भेज पाता है। रचनात्मकता के लिए चिंतन का होना जरूरी है और चिंतन दबाब मुक्त परिवेश में ही गति प्राप्त करता है। यदि बच्चा तनाव में है और किसी बोझ से दबा है तो वह नया सोच ही नहीं सकता है और जब सोच ही नहीं सकता है तब रचने की बात तो दूर की कौड़ी है। यह जितना बच्चों के संदर्भ में सही है उतना ही बड़ों के भी। आज हमारी शिक्षा व्यवस्था में स्वतंत्रता, अवसर और चुनौती का घोर अभाव देखा जाता है। बात बच्चे की हो या फिर शिक्षक की, वे तमाम तरह के प्रतिबंधों और बोझ से दबे हुए हैं। पाठ्यपुस्तक उनमें से एक है।

पाठ्यपुस्तक का दबाब इतना जबरदस्त है कि न बच्चे और न ही शिक्षक उससे बाहर निकल पाते हैं। पाठ्यपुस्तक में निहित विषयवस्तु को पढ़ना और पढ़ाना ही उनके लिए अभीष्ट बन चुका है। पाठ्यपुस्तकों का अनुकरण करना ही शिक्षा का अंतिम लक्ष्य बन गया है। मुक्त करने वाली, कहलानेवाली शिक्षा बांधनेवाली बन गई है। शिक्षक की कोशिश रहती है कि निर्धारित समय में पाठ्यपुस्तक में संकलित विषयवस्तु को बच्चों तक पहुंचा दे और बच्चों का लक्ष्य रहता है, उसे ज्यों का त्यों रट कर परीक्षा में उगल दे। अधिक अंक पाने का इतना जबरदस्त दबाव है कि बच्चे के पास न खाने का समय है और न खेलने का। यह दबाव तब आतंक में बदल जाता है। शिक्षक निश्चित समयावधि में पाठ्यक्रम पूरा करने के दबाव में बच्चे की रुचि और आनंद का भी ध्यान नहीं रखते। वे बोझिल शिक्षण विधियों का इस्तेमाल करते हैं। विज्ञान जैसे विषयों में भी प्रयोग नहीं करवाते हैं। बिना प्रयोगशाला में गए प्रयोग–विधि लिखा दी जाती है और बच्चों से याद करने के लिए कह दिया जाता है।

पाठ्यपुस्तक पर अतिनिर्भरता के चलते शिक्षक और बच्चे के पास पाठ्यपुस्तक से बाहर निकल पाने का न अवसर है और न ही स्वतंत्रता। लगता है कि दोनों पाठ्यपुस्तक रूपी किले से बंधे हुए हैं। रस्सी की लंबाई के अनुपात में उसके चारों ओर ही चक्कर लगाने के लिए मजबूर हैं। कभी कोई उसे तोड़कर कुछ देर के लिए इधर–उधर चक्कर लगाना चाहता भी है, तो अंततः परीक्षा का भय उन्हें फिर उसी किले के पास लौटा ले आता है। बच्चे का मन बहुत करता है कि खुले में विचरण करे। कल्पनाओं की उड़ान भरे। अपनी तरह से दुनिया को देखे–सुने–समझे। कुछ नया करे। पर अध्यापक–अभिभावकों द्वारा उसे हांक–हूंक कर फिर से पाठ्यपुस्तक रूपी किले से बांध दिया जाता है। उसे समझाया जाता है कि उसकी सफलता इस किले से बंधे रहने में ही निहित है। जो भी करना है, इस किले के इर्द–गिर्द ही करना है। खूब उछलो–कूदो पर यहीं। बच्चा सुबह से शाम तक उसी के चक्कर लगाने में पिला रहता है। बच्चा स्कूल से घर तक पाठ्यपुस्तकों को साधने में लगा रहता है। जितनी पाठ्यपुस्तकें, उतनी ट्यूशन कक्षाएं। उससे बाहर निकलने की न उसको फुर्सत है और न ही छूट। हद तो तब हो जाती है कि जब पाठ्पुस्तकों में कहीं–कहीं रचनात्मकता के लिए दिए गए अवसरों को भी शिक्षकों द्वारा परीक्षा की दृष्टि से अनुपयोगी करार देकर समाप्त कर दिया जाता है। ऐसे में नीलबाग स्कूल के संचालक डेविड ऑसबरा का यह कथन पूरी तरह सत्य प्रतीत होता है–''बच्चे जब अपनी रचनात्मक ऊर्जा के चरम पर होते हैं, बारह–तेरह साल की उम्र में परीक्षा के दबाव में उन्हें रचनात्मकता के उन रास्तों को बंद करना पड़ता है क्योंकि परीक्षा को बहुत अनिवार्य माना जाता है।'' अध्यापक हों चाहे अभिभावक उनकी चाह रहती है कि बच्चा

पाठ्यपुस्तक को रट डाले। पाठ्यपुस्तक के बाहर वह न तो लिख सकता है और न ही पढ़ सकता। वह ऐसा उत्तर नहीं दे सकता है, जो पाठ्यपुस्तक से बाहर हो। जो पाठ्यपुस्तक की इस सीमा को नहीं मानता वह बिगड़ा या आवारा घोषित कर दिया जाता है। घोर अनुशासनहीन। ऐसे अनेक चिंतकों, दार्शनिकों, लेखकों, वैज्ञानिकों और कलाकारों के उदाहरण मिल जाएंगे जिन्हें यह उपाधि उनके विद्यार्थी जीवन में मिल चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दुनिया बस पाठ्यपुस्तक तक ही सीमित है। कितनी विडंबना है कि पाठ्यपुस्तक से रटी सूचना के अंक होते हैं पर रचनात्मकता के नहीं। एक बच्चा पाठ्यपुस्तक से ग्रहण की गई जानकारी को ज्यों का त्यों उतार देता है और वह अधिक अंक प्राप्त कर लेता है बनिस्पत उस बच्चे के, जो अपनी समझ के आधार पर प्रश्न का उत्तर देता है। हमारे स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों पर कितनी निर्भरता है, यह इस बात से देखा जा सकता है कि यदि सत्र के प्रारम्भ में पाठ्यपुस्तक उपलब्ध नहीं है तो शिक्षण कार्य प्रारम्भ ही नहीं होता है। एक आम तर्क होता है कि जब पाठ्यपुस्तक ही नहीं है तो पढ़ाई कैसे शुरू होगी? यह प्रवृत्ति बच्चे की रचनात्मकता को कुंद करती है। बच्चा ज्ञान निर्माण की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाता है। यह भ्रम भी पैदा हो जाता है कि पाठ्यपुस्तक में संकलित सूचना ही अंतिम ज्ञान है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 भी पाठ्यपुस्तक पर अतिशय जोर देने के दुष्प्रभावों की ओर हमारा ध्यान खींचती है– ''अगर अपने विकास की दौड़ में विद्यार्थी अधिक समय यथार्थ विश्व के अलावा किताबों की दुनिया में बिताते हैं, तो बहुत संभावना उनके टूट जाने की रहती है। शिक्षा का उद्देश्य नकारात्मक बन जाता है। यह विद्यार्थियों के दिमाग को दो टुकड़ों में बांट देता है। वह एक ऐसी किताबी दुनिया को याद करने में लगा रहता है जिस पर उसका कोई वश नहीं होता। ''

पाठ्यपुस्तकों की यह रूढ़ दुनिया रचनात्मकता की दुश्मन है। पाठ्यपुस्तक की इस जकड़बंदी के चलते न अध्यापक की और न बच्चे की कल्पनाशीलता और सूझबूझ उभर पाती है। पाठ्यपुस्तक पर अतिनिर्भरता कल्पनाशीलता के रास्ते अवरूद्ध कर देती है। जबकि रचनात्मकता के लिए कल्पनाशीलता का होना आवश्यक है। जो जितना अधिक कल्पनाशील होगा उतना ही अधिक रचनात्मक। इस बात को महसूस करते हुए ही गांधी सरीखे अनेक शिक्षाविद पाठ्यपुस्तक मुक्त शिक्षा प्रणाली की बात करते हैं। गांधीजी ने 'हरिजन' के एक लेख में लिखा : ''पाठ्यपुस्तकों से पढ़ाने वाला शिक्षक अपने छात्रों को मौलिकता नहीं सिखा सकता। वह स्वयं पाठ्यपुस्तकों का गुलाम हो जाता है और मौलिक होने का कोई अवसर नहीं ढूंढ पाता।'' रही–सही कसर पाठ्यपुस्तकों की भाषा पूरी कर देती है। पाठ्यपुस्तकों की भाषा बच्चों की सृजनशीलता को नुकसान पहुंचा रही है। अंग्रेजी माध्यम के चलते बच्चे की चिंतन–मनन की प्रक्रिया बाधित हुई है। बच्चा पाठ्यवस्तु को रट तो लेता है पर नया कुछ नहीं जोड़ पाता है। एक ऐसी भाषा जो अपनी मातृभाषा से इतर है, बच्चे के लिए उसमें चिंतन और कल्पना करना स्वाभाविक नहीं है। इससे बच्चे की कल्पनाशीलता बाधित हो जाती है। नया करने की शुरुआत तो हमेशा चिंतन और कल्पना से ही होती है। चिंतन और कल्पना के बिना भला रचनात्मकता कैसे संभव है?

चुनौती के अवसरों का अभाव भी रचनात्मकता के विकास में एक बड़ी बाधा है। आज बच्चों के सामने अध्ययन से जुड़ी चुनौतियां कम होती जा रही हैं। अध्ययन के दौरान उनको ऐसी चुनौतियों का सामना कम ही करना पड़ता है, जिससे उन्हें

जूझना पड़ता हो, अधिक चिंतन–मनन की जरूरत पड़ती हो। पाठ्यपुस्तक में आने वाले कठिन स्थलों का समाधान पाने के लिए उनके पास ट्यूशन से लेकर रेफ्रेशर और इंटरनेट जैसे साधन उपलब्ध हैं, जहां उन्हें सबकुछ तैयार मिल जाता है। गलती कर सीखने के अवसर तो उनके पास रहते ही नहीं। छोटी–सी भी कठिनाई आने पर बच्चे स्वयं कोशिश करने के बजाय उक्त माध्यमों की शरण में चले जाते हैं और अपने कठिन प्रश्नों के उत्तर पा लेते हैं। ऐसे में खोजी प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। जबकि खोज ही है, जो बच्चे की सृजनशीलता को बढ़ाती है। गाइड या रेफ्रेशर रचनात्मकता की कातिल तो हैं ही साथ ही दकियानूसी , अलोकतांत्रिक एवं अप्रमाणिक सूचनाओं व तथ्यों को भी बढ़ावा दे रही हैं। बच्चे 'परिजीवी' बनते जा रहे हैं।

सृजनशीलता के विकास के लिए अवलोकन –खोज–विश्लेषण के अधिकाधिक अवसर जरूरी हैं। बच्चा प्रत्यक्ष– अप्रत्यक्ष रूप से जितना अधिक दुनिया को देख–समझ पाता है, उसमें उतनी अधिक सृजनशीलता के विकास की संभावना होती है। दुनिया को जानने–समझने का एक तरीका अध्ययन है, पर आज पाठ्यपुस्तकों से दबे बच्चों को उससे बाहर की पुस्तकों को पढ़ने का बिल्कुल भी अवसर नहीं मिल पाता है। फलस्वरूप बाहरी दुनिया के बारे में उसकी जानकारी बहुत ही कम होती है। इसलिए बच्चों को अपनी बाहर की दुनिया के बारे में अधिक से अधिक जानने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। उन्हें स्वयं करने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने होंगे। उनके सामने चुनौती प्रस्तुत करनी होगी। रचनात्मकता के लिए तनाव मुक्त परिवेश का निर्माण करना होगा। घर में भी, स्कूल में भी, पाठ्यपुस्तकों में भी और उनसे बाहर भी। ताकि बच्चा स्वयं नया करने के लिए प्रेरित हो। बड़ों को समझना होगा कि उनकी भूमिका केवल वातावरण सृजन की है। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि नया करना मनुष्य की मूलप्रवृत्ति है। साथ ही शिक्षकों को भी स्वायत्तता प्रदान करनी होगी। शिक्षण के अतिरिक्त उन्हें किसी तरह के अन्य कार्यों में नहीं लगाना होगा। ताकि वे अपने शिक्षण को रचनात्मक बना सकें। मौजूदा परीक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। पाठ्यपुस्तकों को बच्चों की रुचि के अनुकूल और रचनात्मक गतिविधियों के अवसर प्रदान करने वाली बनाना होगा। पाठ्यचर्या 2005 में स्वागत योग्य कदम उठाया गया है जिसमें बच्चे को किताबों और स्कूल की दुनिया से बाहर निकालने की बात कही है। साथ ही शिक्षकों को स्वायत्तता प्रदान करने का समर्थन किया गया है। हम समझते हैं कि इससे स्थिति में कुछ परिवर्तन आएंगे। पर देखना यह है कि शिक्षा के दस्तावेज में लिखी इस बात को दस्तावेज से बाहर कितना महत्त्व दिया जाता है। मौजूदा व्यवस्था के कर्ता–धर्ताओं को सृजनशीलता कितनी पच पाती है।

महेश पुनेठा : शिक्षक हैं और पिथौरागढ़ में रहते हैं। शिक्षक साथियों के लिए 'शैक्षिक दखल' का प्रकाशन करते हैं। शिक्षा व समाज के मसलों पर निरंतर रूप से लेखन।